

## निराशा के खिलाफ

1963 में हावर्ड जिन हुक्मउदूली की वजह से स्पेलमैन कॉलेज से निकाल दिये गये, जहाँ वह इतिहास विभाग की एक पीठ पर थे। उन्होंने अपने उन छात्रों का पक्ष लिया था जिनके साथ वह नस्ली गैरबराबरी के खिलाफ चलाये जा रहे आंदोलन में शामिल थे और जिन्होंने तभी यथास्थितिवादी कॉलेज प्रबंधन से विद्रोह किया था। मई 2005 में मानद उपाधि ग्रहण करने और दीक्षांत भाषण देने के लिए एक बार फिर उन्हें स्पेलमैन बुलाया गया। यह उसी भाषण का लिखित पाठ है।

बयालीस साल बाद स्पेलमैन वापस बुलाये जाने से मैं गहराई से अभिर्नंदित हुआ हूँ। मैं संकाय और प्रबंध समिति के सदस्यों, खास तौर से आपके अध्यक्ष बेवरली टेटम का, मुझे बुलाने का निर्णय लेने के लिए शुक्रगुजार हूँ। और डायहेन कैरोल और वर्जीनिया डेविस फ्लॉएड के साथ यहाँ होना तो बहुत खास है।

लेकिन ये आपका दिन है – आज स्नातक हो रहे छात्रों का। आप और आपके परिवारों के लिये ये खुशी का दिन है। मैं जानता हूँ कि भविष्य के लिए आपके पास अपनी उम्मीदें होंगी, इसलिए, मेरे लिए यह बताना किंचित् पूर्वग्रहयुक्त होगा कि मुझे आपसे क्या उम्मीदें हैं, लेकिन ये बिल्कुल वही उम्मीदें हैं जो मुझे अपने नातीपोतों से भी हैं।

मेरी पहली उम्मीद है कि इस समय की दुनिया के हालात देखकर आप ज्यादा निराश न हों। निराश होना बहुत आसान है क्योंकि हमारा देश युद्ध झेल रहा है, फिर से एक युद्ध, युद्ध के बाद युद्ध – और हमारी सरकार साम्राज्य विस्तार के लिए आमादा दिखाई दे रही है। इस देश में गरीबी है, बेघरी है, बगैर स्वास्थ्य के ज़िंदा लोग हैं, और टूँसाटूँस कर भरी हुई

कक्षाएँ हैं, लेकिन हमारी सरकार, जिसके पास खर्च करने के लिए खरबों डालर हैं, अपनी निधियाँ युद्ध में जाया कर रही है। अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका और मध्यपूर्व में करोड़ों लोगों को मलेरिया और ट्यूबरकुलोसिस और एड्स का सामना करने के लिए साफ पानी और दवाओं की ज़रूरत है, लेकिन हमारी सरकार, जिसके पास हज़ारों की तादाद में नाभिकीय हथियार हैं, और ज्यादा संहारक हथियारों पर प्रयोग कर रही है। हाँ, इन सबसे निराश होना आसान है।

लेकिन मुझे कहने दें कि जो कुछ अभी मैंने आपको ब्यौरेवार बताया, क्यों उससे आपको निराश नहीं होना चाहिए।

मैं आप सबको याद दिला दूँ कि पचास साल पहले यहाँ दक्षिण में नस्ली भेदभाव उतनी ही सख्ती से डटा हुआ था जितना दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद। राष्ट्रीय सरकारें, केनेडी और जॉनसन जैसे उदार राष्ट्रपतियों के बावजूद अश्वेतों के पीटे जाने, मार डाले जाने, और मतदान से वंचित किये जाने के दौरान किसी अलग रास्ते की तलाश में थीं। इसलिए दक्षिण के अश्वेत लोगों ने खुद ही कुछ करने का फैसला किया।

उन्होंने बहिष्कार किया, विरोध किया, धरने और प्रदर्शन किये और प्रताड़ित हुए और जेल चले गये और कहीं-कहीं मार भी डाले गये, लेकिन आज़ादी की उनकी आवाज़ें जल्द ही पूरे देश और पूरी दुनिया में सुनी गयीं, और राष्ट्रपति और कांग्रेस ने भी अंततः वही किया जिसे शुरूआत में कर पाने में वे असफल रहे थे – उन्होंने संविधान के चौदहवें और पन्द्रहवें संशोधन को लागू किया। अनेक लोगों ने कहा था : 'दक्षिण कभी नहीं बदलेगा।' लेकिन वह बदला। वह बदला क्योंकि आम लोग संगठित हुए, जोखिम उठाया और व्यवस्था को चुनौती दी और हटे नहीं। यों, लोकतंत्र जीवित हो उठा। मैं आपको यह भी याद दिलाना चाहता हूँ कि जब वियतनाम युद्ध चल रहा था, और युवा अमेरिकी मर रहे थे और विकलांग होकर घर लौट रहे थे और सरकार वियतनाम के गाँवों पर बम गिरा रही थी – स्कूलों और अस्पतालों पर बम गिरा रही थी और बड़ी संख्या में साधारण लोगों की जान ले रही थी – युद्ध रोकने की कोशिश नाउम्मीद हो गई थी। लेकिन दक्षिणी आंदोलन की तरह, लोग विरोध करने लगे और जल्द ही उसे रुकना पड़ा। यह एक राष्ट्रीय आंदोलन था। सैनिक वापस लौट रहे थे और युद्ध की भर्त्सना कर रहे थे और नौजवान सेना में शामिल होने से इंकार कर रहे थे और युद्ध को खत्म होना पड़ा।

इस इतिहास का सबक यही है कि ये कभी न भूलें कि अगर आप सही हैं और अड़े रहते हैं तो चीज़ें बदल जायेंगी। सरकार जनता को बहकाने की कोशिश कर सकती है, और अखबार और टेलीविज़न भी ऐसा कर सकते हैं, लेकिन सचार्ई के पास ज़ाहिर होने का रास्ता है। एक सच में हज़ार झूठों से ज्यादा ताक़त होती है। मैं जानता हूँ कि आपके पास करने को दुनियावी कामकाज हैं – नौकरी हासिल करना और विवाह करना और बच्चे पैदा

करना। आप समृद्ध हो सकते हैं और उन मायनों में सफल भी, जिन मायनों में हमारा समाज सफलता की परिभाषा करता है, वैभव और आनबान और इज्जत के ज़रिये। लेकिन एक अच्छे जीवन के लिए इतना पर्याप्त नहीं है।

तॉल्सताय की कहानी *इवान इलीच की मृत्यु* को याद कीजिए। मृत्युशय्या पर पड़ा एक आदमी अपनी ज़िंदगी पर निगाह डालता है, कैसे उसने सब कुछ किया, नियमों का पालन किया, न्यायाधीश बना, शादी की, बच्चे पैदा किये और सफल आदमी माना गया। फिर भी अपने अंतिम लम्हों में वह वैफल्य का अनुभव कर रहा है। मशहूर उपन्यासकार हो जाने के बाद खुद तॉल्सताय ने यह तय किया था कि इतना भर होना पर्याप्त नहीं है, और उन्हें रूसी प्रतिष्ठान के व्यवहारों के ख़िलाफ़ ज़रूर आवाज़ लगानी होगी, उन्हें युद्ध और सैन्यवाद के विरुद्ध ज़रूर लिखना होगा।

मेरी कामना है कि अपनी ज़िंदगी को बेहतर बनाने के लिए आप चाहे जो कुछ करें – आप अध्यापक बनें, या समाजसेवी, या उद्योगपति, या वकील या कवि या वैज्ञानिक – आपको इस दुनिया को अपने बच्चों की ख़ातिर अच्छा बनाने के लिए अपनी ज़िंदगी का एक हिस्सा लगाना होगा, दुनिया के सभी बच्चों के लिए। मुझे उम्मीद है कि आपकी पीढ़ी युद्ध के अंत की माँग करेगी, आपकी पीढ़ी ऐसा कुछ करेगी जो इतिहास में आज तक नहीं हुआ है और उन राष्ट्रीय सीमाओं को गिरा देगी जो इस पृथ्वी के अन्य मनुष्यों से हम लोगों को अलग-अलग कर देती है।

हाल ही में मैंने न्यूयॉर्क टाइम्स के मुख्यपृष्ठ पर एक तस्वीर देखी जिसे मैं अपने दिमाग से निकाल नहीं सकता। इसमें मेक्सिको से लगी हुई एरिजोना की दक्षिणी सीमा पर कुर्सियों पर आम अमेरिकी बैठे हुए थे। उनके पास बंदूकें थीं और वे उन मेक्सिकियों की ताक में थे जो सीमापार करके संयुक्त राज्य में घुसने की कोशिश करते। यह मेरे लिए भयावह था कि इक्कीसवीं सदी की इस कथित सभ्यता में हमने अपनी दुनिया के 200 नकली टुकड़े कर दिये हैं जिन्हें हम राष्ट्र कहते हैं, और हर उस आदमी को मार डालने के लिये तैयार बैठे हैं जो इनके बीच की सीमा के आरपार जा रहा हो।

राष्ट्रवाद – यानी एक झण्डे के प्रति समर्पण, एक राष्ट्रगान के प्रति समर्पण, एक सरहद की इतनी विकरालता कि वो हमें हत्या के लिए उकसाए – क्या नस्लवाद, धार्मिक घृणा के साथ-साथ हमारे समय का जघन्यतम दुष्कृत्य नहीं है? सोचने के ऐसे तरीके बचपन से ही रोपे और सींचे जाते हैं और सिद्धान्त रूप से दिमाग में भर दिये जाते हैं, ये उनके लिए बहुत काम के होते हैं जो ताक़त में और उनके लिये भीषण जो ताक़त के बाहर हैं।

यहाँ, संयुक्त राज्य में हम इस आस्था के साथ बड़े होते हैं कि हमारा देश दूसरों से

भिन्न है, दुनिया में एक अपवाद है, अद्वितीय रूप से नैतिक हैं, कि हम सभ्यता, स्वतंत्रता, लोकतंत्र की स्थापना के लिए ही दूसरों की ज़मीन में घुस जाते हैं। लेकिन अगर आप थोड़ा भी इतिहास जानते हैं तो आप यह भी जानते हैं कि यह बात सच नहीं है। अगर आप थोड़ा भी इतिहास जानते हैं तो आप यह भी जानते हैं कि इस महाद्वीप में हमने मूलनिवासियों की हत्याएँ कीं, मेक्सिकों पर चढ़ाइयाँ कीं, क्यूबा और फिलीपींस में सेनाएँ भेज दीं। हमने बड़ी तादाद में लोगों को मार डाला, और हमने उनको लोकतंत्र या आज़ादी कुछ भी नहीं दिया। हम लोकतंत्र लाने के लिए वियतनाम में नहीं घुसे थे, नशीले पदार्थों का धंधा खत्म करने के लिए हमने पनामा में घुसपैठ नहीं की थी, अफगानिस्तान और इराक में हम आतंकवाद से लड़ने नहीं गये थे। हमारे लक्ष्य वही थे जो विश्व इतिहास में दूसरे साम्राज्यों के रहे हैं – कार्पोरेशंस के लिए और ज्यादा मुनाफा, राजनेताओं के लिए और ज्यादा ताक़त।

लगता है कि हमारे बीच के कवियों और कलाकारों के पास राष्ट्रवाद के इस रोग की स्पष्टतर समझ है। खास तौर से अश्वेत रचनाकार अमेरिकी 'आज़ादी' और 'लोकतंत्र' के वरदानों से कम से कम अभिभूत हैं, उन लोगों ने इन वरदानों का कम से कम उपयोग किया है। मैं लांगस्टन ह्यूज, जोरा नील हर्सटन, रिचर्ड राइट और जेम्स बॉल्डविन की बात कर रहा हूँ।

मैं द्वितीय विश्वयुद्ध का एक सेनानी रहा हूँ। वह एक 'अच्छा' युद्ध माना जाता था, लेकिन मैं इस निष्कर्ष तक पहुँच गया हूँ कि युद्ध बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं है और सिर्फ दूसरे युद्धों को बढ़ावा देते हैं। युद्ध सिपाहियों के दिमागों को ज़हरीला बना देते हैं, उन्हें हत्या और अत्याचार के लिए उकसाते हैं और राष्ट्र की आत्मा में विष भर देते हैं।

मेरी कामना है कि आप अपने बच्चों के लिए एक युद्धहीन विश्व की माँग करें। अगर हम एक ऐसा संसार चाहते हैं जिसमें सभी देशों के लोग एक दूसरे के भाई-बहन हों, दुनिया के सभी बच्चे हमारे बच्चे हों – तब युद्ध – जिनमें हमेशा सबसे ज्यादा बच्चे ही निशाना बनते हैं – को समस्याओं को सुलझाने का रास्ता नहीं माना जा सकता।

मैं 1956 से 1963 के बीच, सात सालों तक स्पेलमैन कॉलेज की फैकल्टी में था। वह एक गर्मजोशी से भरा हुआ दौर था क्योंकि उन सालों में हमने जो भी दोस्त बनाये वे बाद के सभी वर्षों में हमारे दोस्त रहे। मेरी पत्नी रोज़लीन, और मैं और मेरे दो बच्चे कैम्पस में ही रहते थे। जब कभी हम क्रस्बे की ओर जाते, गोरे लोग हमसे पूछते थे: 'काले लोगों की जमात में रहना कैसा लगता है?' बताना मुश्किल था। लेकिन हम ये जानते थे कि निचले अटलांटा में, हमें लगता था कि हम किसी अनजानी जगह में हैं, और जब हम स्पेलमैन कैम्पस में वापस आए तो लगा कि घर में हैं। स्पेलमैन के वे साल मेरे ज़िंदगी के सबसे रोमांचक साल थे, और सर्वाधिक शिक्षाप्रद भी। मैंने अपने छात्रों को जितना सिखाया उससे कहीं ज्यादा उनसे सीखा। वे दक्षिण में नस्ली ग़ैरबराबरी के ख़िलाफ़ बीहड़ आंदोलन के

साल थे। और मैं उसमें शामिल हुआ, अटलांटा में, अल्बेनी में, जार्जिया में, सेल्मा, अल्बामा में, हैटिसबर्ग में, मिसिसिपी में, और ग्रीनवुड और इट्टा बेना और जैक्सन में। मैंने लोकतंत्र के बारे में सीखा, कि वह सरकार में से नहीं निकलता, ऊंचाइयों में नहीं आता, वह एकजुट होकर अन्याय के खिलाफ संघर्ष कर रहे लोगों में से आता है। मैंने नस्ल के बारे में सीखा। मैंने सीखा कि कोई भी बुद्धिमान आदमी एक निश्चित बिंदु पर यह समझ जाता है कि नस्ल एक बनावटी चीज़ है, एक नकली चीज़, और अगर नस्ल मौजूद है (जैसा कार्नेल वेस्ट ने लिखा है) तो सिर्फ इसलिए कि कुछ लोग उसे मौजूद मानते हैं। यों ही, राष्ट्रवाद भी एक कृत्रिम-सी वस्तु है। मैंने सीखा कि किस चीज़ का वाकई हमारे लिए मतलब है – कि जो भी तथाकथित नस्ल और राष्ट्रीयता है – वह इंसान हैं और उनके बीच का प्यार।

मैं खुशनसीब हूँ कि एक ऐसे दौर में स्पेलमैन में रहा जब मेरे छात्रों में ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी बदलाव हो रहे थे और मैं उनको देख भी सका, वे छात्र जो बेहद नम्र थे, बेहद शान्त और अचानक वे कैम्पस छोड़कर शहरों-क़स्बों की तरफ जा रहे थे, वहाँ उठ-बैठ रहे थे, गिरफ्तार हो रहे थे, और सम्पूर्ण ज्वाला और प्रतिकार के साथ जेलों से बाहर आ रहे थे। आप यह सबकुछ हैरी लेफेवर की किताब *अनडॉन्टेड बाइ द फाइट* में पढ़ सकते हैं। एक दिन मेरियन राइट (अब मेरियन राइट एडेलमैन), जो कॉलेज में मेरी छात्रा थीं, और अटलांटा धरनों में सबसे पहले गिरफ्तार होने वालों में से एक, कैम्पस स्थित हमारे घर आई, और उन्होंने हमें एक प्रतिवादपत्र दिखाया जिसे वे अपने हॉस्टल के बुलेटिन बोर्ड पर चिपकाने वाली थीं। उस प्रतिवादपत्र का शीर्षक स्पेलमैन में चल रहे रूपान्तरण के सारतत्व को व्यक्त कर रहा था। मेरियन ने पत्र के बिल्कुल ऊपर लिखा था – *जो लड़कियाँ धरना दे सकती हों, कृपया नीचे हस्ताक्षर करें।*

मुझे उम्मीद है कि आप सिर्फ उस तरफ सफल होकर संतुष्ट नहीं होंगे जिस तरह हमारा समाज सफलता की पैमाइश करता है, कि आप तब क्रायदे को नहीं मानेंगे जब वे अन्यायी हों, कि आप हिम्मत से पेश आएं जो मैं जानता हूँ कि आप में है। कुछ अद्भुत गोरे और काले लोग हमारे आदर्श हैं। अफ्रीकी अमेरिकियों से मेरा आशय कॉडोलीज़ा राइस, या कोलिन पॉवेल, या क्लैरेंस थामस से नहीं है। ये धनी और ताकतवर लोगों के नौकर हो चुके हैं। मेरा मतलब डब्ल्यू.ई.बी. ड्युबाइस, मार्टिन लूथर किंग और मैल्कम और मेरियन राइट एडेलमैन से है और जेम्स बॉल्डविन और जोसेफिन बाकर सरीखे अच्छे गोरे लोकवादियों ने भी शान्ति और अन्याय के लिए प्रतिष्ठान का विरोध किया।

स्पेलमैन की मेरी एक और छात्रा एलिस वाकर, जो मेरियन की ही तरह इन सभी वर्षों में हमारी दोस्त रही हैं, एटंटन के एक बटाईदार किसान परिवार से आई और एक मशहूर लेखिका हुई। अपनी शुरुआती कविताओं में से एक में उन्होंने लिखा था :

ये सच है  
मैंने हमेशा प्यार किया  
हिम्मती लोगों को  
काले नौजवान की तरह  
जिसने कोशिश की  
ढहा देने की  
सारी बंदिशों को  
अचानक,  
जो चाहता था  
तैरना  
एक गोरे  
समुद्र तट पर ( अल्बामा के )  
नग्न ।

मैं आपको बहुत दूर चले जाने का मशविरा नहीं दे रहा हूँ, लेकिन आप निश्चित रूप से नस्ल और राष्ट्रवाद की बंदिशों को तोड़ने में मददगार हो सकते हैं। आप वह करें जो आप कर सकते हैं – आपको नायकोचित कुछ करने की ज़रूरत नहीं है, बस कुछ न कुछ करते रहना है, उन दसियों लाख लोगों के साथ जो यों ही कुछ न कुछ कर रहे हैं, क्योंकि यही सब कुछ न कुछ, इतिहास के एक खास बिंदु पर, एक साथ मिल जाते हैं और दुनिया को बेहतर बना देते हैं।

अद्वितीय अफ्रीकी अमेरिकी लेखिका जोरा नील हर्सटन, जिन्होंने वह सब नहीं किया जो गोरे लोग उनसे चाहते थे, जिन्होंने वह सब भी नहीं किया जो काले लोग उनसे चाहते थे, जो खुदी पर डटी रहीं, हमें बताती हैं कि उनकी माँ ने एक बार उनसे कहा था: *सूर्य के लिये छलांग लगाओ, हो सकता है कि तुम उस तक न पहुँच पाओ, लेकिन कम से कम तुम ज़मीन से ऊपर उठ जाओगी।*

आज यहाँ होकर, आप खुद ब खुद अपने पंजों पर खड़े हैं, छलांग के लिये तैयार।  
मेरी कामना आपके लिए एक बेहतर जीवन की है।

अंग्रेजी से अनुवाद : व्योमेश शुक्ल

---

अमरीका में रहने वाले और उसकी जघन्य विचार प्रणालियों से जबरदस्त बौद्धिक संघर्ष करने वाले हावर्ड जिन दुनिया के प्रतिष्ठित जाने माने इतिहासकार हैं। वर्किंग क्लास के इतिहास पर उनका वृहत काम है। उनकी कृतियाँ मौलिक, निर्भय और मुठभेड़ करती हुई हैं। लगभग एक दशकपूर्व पहल में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था। यह छोटा अनुवाद व्योमेश शुक्ल ने हमें उपलब्ध किया है जो पहल के लक्ष्यों की सहायता करता है।

## राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद

प्रेमचंद और स्वाधीनता आंदोलन, जिसे राष्ट्रीय आंदोलन कहना ज्यादा बेहतर होगा-पर विचार करते हुए मैं यह कहना चाहूँगा कि जैसी हिंदी में परंपरा रही है, हम साहित्यकारों की पूजा-अर्चना ज्यादा करते हैं, और उनको आलोचनात्मक दृष्टि से कम देखते हैं। यह सही दृष्टिकोण नहीं है। पूजा-अर्चना, चाहे वह साहित्यकार कितना भी बड़ा हो, उसकी पूजा-अर्चना न उसके हित में होती है, न साहित्यके पाठकों के हित में होती है, न साहित्य के विकास के हित में होती है। प्रेमचंद उन लोगों में रहे हैं जिनको हिंदी में आराध्य साहित्यकार कहा जाता रहा है। पर मैं सोचता हूँ कि प्रेमचंद की महानता के साथ-साथ उनमें जो अंतर्विरोध दिखाई देते हैं, उनकी जो कुछ कमजोरियाँ दिखाई देती हैं, उनकी भी चर्चा हिंदी साहित्य में खुलकर होनी चाहिए। हिंदी साहित्य का विकास इसी से हो सकता है। प्रेमचंद को यथार्थवादी लेखक के रूप में जाना जाता है। यथार्थवादी लेखक कई तरह के हो सकते हैं, लेकिन मैं दो की बात करता हूँ। एक तो वे जो अपने समय के यथार्थ का चित्रण करते हैं और आमतौर से ज्यादातर लेखक ऐसा ही करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी लेखक होते हैं जो अपने समाज के, अपने समय के यथार्थ का चित्रण करते हुए उसका अतिक्रमण भी करते हैं। वे उस यथार्थ का और उस यथार्थ की जो चालू प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रभुत्वशाली प्रवृत्तियाँ होती हैं, उसको आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। अपने समय की प्रभुत्वशाली प्रवृत्तियों को, अपने समय की हवा को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना कोई मामूली बात नहीं है। अंग्रेजी में जैसे एक कहावत है, जिसको हिंदी में हम कहेंगे कि धारा के विरुद्ध तैरना-इसका साहस बहुत कम लोगों में होता है। स्वीधानता आंदोलन के संदर्भ में, राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में रवींद्रनाथ ठाकुर एकमात्र ऐसे बड़े लेखक थे, सबसे बड़े, जिन्होंने अपने समय में चल रहे राष्ट्रवाद के पार भी देखने की कोशिश की थी। उस राष्ट्रवाद को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा था और न सिर्फ देखा था, बल्कि गांधी जी के साथ उनकी बड़ी महत्वपूर्ण बहस हुई इसको लेकर।

साहित्य और इतिहास के बहुत सारे विद्यार्थी उस बहस को जानते हैं। गांधीजी का जो बुनियादी दर्शन था, जिस पर वो देश के राष्ट्रीय आंदोलन को टिका रहे थे, उस बुनियाद पर भी रवींद्रनाथ ठाकुर ने आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कीं। पश्चिम को जिस तरह पूरी तरह से नकारकर गांधीजी एक दर्शन खड़ा कर रहे थे - राष्ट्रीय दर्शन, उसको रवींद्रनाथ ने चुनौती दी और 1920-21 के असहयोग आंदोलन के दौर में ब्रिटिश राज्य विरोधी जो एक ज्वार उमड़ा था, उस ज्वार की भी रवींद्रनाथ ठाकुर ने आलोचना की थी। ये

साहस उस युग में गांधीजी, जो राष्ट्रीय आंदोलन के डिक्टेटर हो चुके थे, और उनके असहयोग आंदोलन की आलोचना करने का साहस देश के और किसी व्यक्ति में नहीं था। रवींद्रनाथ ठाकुर कोई बड़ी गैरजिम्मेदारी किस्म से या बचकाने वामपंथियों की तरह से आलोचना नहीं कर रहे थे। वे बड़े गंभीर प्रश्न उठा रहे थे। अंग्रेजों के खिलाफ जिस प्रकार विरोध का वातावरण बना था, उसमें रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा अंग्रेज सिर्फ वो नहीं हैं, जो हिंदुस्तान में शासक के रूप में हमें दिखाई देते हैं। इंग्लैंड में अंग्रेजों का एक बड़ा समाज है, विभिन्न वर्ग हैं उसमें, शोषित-उत्पीड़ित लोग भी हैं और हमारे जैसे कई मनुष्य भी हैं वहां, जो हिंदुस्तान की आजादी के लिए वहां भी जुलूस निकालते हैं। अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन में घृणा ऐसी मत पैदा करें कि सारी अंग्रेज जाति ही हमें घृणित लगने लगे। और हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई एक दौर की बात है। हिंदुस्तान आजाद हो जाएगा, उसके बाद इंग्लैंड और सारी दुनिया से हमारे संबंध होंगे। तब हम कौन-सा दृष्टिकोण अपनाएंगे? और भी कई तरह की आलोचना उन्होंने की। चर्खे को स्वराज्य से जोड़ने और चरखे के आधार पर भारत की अर्थव्यवस्था खड़ी करने के गांधीवादी दर्शन की भी आलोचना उन्होंने की। तो ऐसे साहित्यकार बड़े कम होते हैं, जो अपने युग के पार देख पाते हैं।

हिंदी में उस प्रकार का कोई साहित्यकार हमें नहीं दिखाई देता है, लेकिन प्रेमचंद एक हद तक इस प्रकार के लेखक थे। उन्हें ऐसा एकमात्र हिंदी लेखक कहना चाहिए, जो अपने समय के राष्ट्रवाद को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं पहली बार। और प्रेमचंद इस मंजिल तक एक लंबा सफर तय करके पहुंचे थे। आप सब जानते हैं कि प्रेमचंद की पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' है, जिसमें अनमोल रतन वो खून का आखिरी कतरा है, जो अपने देश की आजादी के नाम पर, अपने वतन के नाम पर गिरा। तो इतनी भावुकतापूर्ण ढंग से देशभक्ति की जो कल्पना है, एक ऐसी देशभक्ति जिसमें राष्ट्र का कोई आकार-प्रकार नहीं है, उसकी कोई ठोस समझ नहीं है। ऐसी देशभक्ति लंबे समय तक चलती रही, लगभग एक दशक तक प्रेमचंद में ये चीजें रही हैं। लेकिन 1917 में दो बड़े परिवर्तन घटित हुए-एक, गांधीजी के नेतृत्व में चंपारन में किसानों का आंदोलन, जो हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए एक नई चीज थी कि किसान उसमें घुस आए। दूसरा उसी वर्ष नवंबर में रूस में हुई बोलशेविक क्रांति। इन दो चीजों ने दुनिया का नक्शा बदल दिया। इन्होंने हिंदुस्तान के भी स्वाधीनता आंदोलन के चरित्र को बदल दिया और पहली बार प्रेमचंद उस भावुकताभरी मातृभूमिवाली देशभक्ति की अवधारणा से आगे बढ़े और स्वाधीनता आंदोलन को एक ठोस शकल में उन्होंने देखना शुरू किया। देशभक्ति की जगह राष्ट्रवाद ने ले ली। राष्ट्रवाद एक राजनीतिक शब्द है। उसमें वर्गों का सवाल उठता है। उसमें नेतृत्व का सवाल उठता है और प्रेमचंद ने, राष्ट्रवाद का जो आंदोलन चल रहा था, उसको वर्गीय दृष्टि से देखना शुरू किया।

वर्ग कोई मार्क्सवादी अवधारणा नहीं है। क्लास स्ट्रगल और क्लास की कांसेप्ट एक बूर्ज्वा अवधारणा है। मार्क्स से बहुत पहले पूंजीवादी अर्थशास्त्री हमेशा इसका प्रयोग करते रहे। हमारे स्वाधीनता आंदोलन में गांधीजी ने सबसे ज्यादा प्रयोग किया है- वर्गों का, क्लास का, क्लास-स्ट्रगल शब्दों का। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हुए प्रेमचंद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उस राष्ट्रवाद के नेतृत्वकारी वर्ग पर सवाल खड़े किए। 'उपदेश' कहानी, जो 1917 में उन्होंने लिखी, वो पहली नई रचना है प्रेमचंद के इस नए दृष्टिकोण की, जो स्वाधीनता आंदोलन को एक बिल्कुल अलग दृष्टि से देखती है। इसमें एक वकील है, पढ़ा-लिखा है। इलाहाबाद में रहता है। आप में से कइयों ने वो कहानी पढ़ी होगी। वह गांव में जमींदार भी है। शहर में वह वकालत के अलावा जातीय सेवा भी करता है। जैसा उस जमाने में राष्ट्रीय आंदोलन को कहा जाता था कि जातीय सेवा का काम है, जातीय सेवा में लगे हुए हैं। आज भी उस तरह के शब्द बचे-खुचे रूप में प्रयोग में आ ही जाते हैं। वह अखबारों में लेख भी लिखता है, भाषण भी देता है। कोई भी राष्ट्रीय सभा हो यानी जातीय सभा हो तो भाषण भी देता है और जब इलाहाबाद में प्लेग फैलता है तो अच्छा-खासा भाषण प्लेग से लड़ने के लिए देकर अपने गांव भाग जाता है। और उसके गांव में किसानों की बदहाली है।

हालांकि वह उस गांव का जमींदार है लेकिन उसको कोई मतलब नहीं। तो ये जो जातीय सभा के नेता थे, ये जो नेतृत्वकारी वर्ग था - सिर्फ शीर्ष पर बैठे नेता नहीं, हर शहर-गांव-कस्बे में जो नेतृत्वकारी वर्ग था, जिन पर राष्ट्रीय आंदोलन टिका हुआ था, उसको प्रेमचंद ने पहली बार लिया और उसके खोखलेपन को दिखाया। उसी के खिलाफ उसी के गांव के एक अनपढ़ आदमी को प्रेमचंद खड़ा करते हैं जो किसानों की चिंता करता है। तो ये जो नेतृत्वकारी वर्ग था, जो जिस दृष्टि से स्वराज्य के आंदोलन को चला रहा था, प्रेमचंद ने उसका विरोध किया।

प्रेमचंद पहले लेखक हैं जिन्होंने 1918 के ही अंत में 'पुराना जमाना-नया जमाना' लेख लिखा और उस लेख में बड़े स्पष्ट रूप से उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग की शिनाख्त करते हुए उसके बारे में टिप्पणी की है। मशहूर टिप्पणी है, लेकिन इस प्रसंग में मैं उसको फिर से एकबार आपके सामने रख दूँ। कहते हैं- "हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज्यादा हैं, मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं है। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वे अधिकार और शासन की मांग करते हैं और धन और ऐश्वर्य-वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। आप स्वराज्य की हांक लगाइए, सेल्फ गवर्नमेंट की मांग कीजिए, जनता को इन चीजों से मतलब नहीं। वह आपकी मांगों में शरीक नहीं है। कोई कारण नहीं कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज्यादा पसंद करे। जनता को इन चीजों से मतलब नहीं।" ऐसी भयानक आलोचना राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं की उस समय, कल्पना नहीं की जा सकती कि कोई कर सकता था हिंदी में। बड़े ठोस ढंग से प्रेमचंद ने स्वाधीनता आंदोलन को देखा कि कौन हैं इसके नेता? वकील हैं और जमींदार। वो जमींदार ही हैं जो शिक्षा प्राप्त कर सकते थे और शहर में आकर वकालत करते थे और कांग्रेस के स्थानीय नेता होते थे। कांग्रेस के तमाम नेता वकील रहे हैं। कोई ऐसा नेता नहीं जो वकालत न किया हो। देश की आजादी के लिए, लड़ने के लिए वकालत करना मानो जरूरी था, तभी अंग्रेजी कानून समझेंगे तो लड़ेंगे उनके खिलाफ। तो ये जो वर्ग था, ये गांव में किसानों का शोषण करता है और शहर में आजादी की मांग करता है। कहने की जरूरत नहीं कि ये द्विज वर्गों से आए हुए लोग थे। दलितों के साथ उनके जो अंतर्विरोध हैं, वे अलग हैं, जिनको बाद में अंबेडकर ने उठाया। ये भी कहने की जरूरत नहीं कि ये सब अपने-अपने घर के पति थे और इनकी पत्नियों से जो अंतर्विरोध था, उसे 1925-26 में दूसरी महिला नेताओं ने उठाना शुरू किया। तो ये जो राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्विरोध थे, इनकी चर्चा को भुलाकर राष्ट्रगान नहीं गाया जा सकता। प्रेमचंद की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे हिंदी के पहले लेखक थे जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के चरित्र की, स्वाधीनता आंदोलन के राष्ट्रीय चरित्र की आलोचना की और उसको किसानों की दृष्टि से देखा।

प्रेमचंद कोई किसान नहीं थे। जाति से भी किसान नहीं थे और आजीविका की दृष्टि से भी किसान नहीं थे। शहर में रहते थे। शहरी मध्यवर्ग का ही उनको लेखक कहना चाहिए, लेकिन ऐसे लोगों में थे, जिनका गांव से नाता-रिश्ता बना हुआ है। गांव में मकान है, गांव में परिवार है, गांव में आते-जाते रहते हैं। और बाद में जब बनारस आकर रहने लगे तो गांव में ही रहते थे। गांव में ही उन्होंने मकान अपना ठीक किया। तो वे ऐसे लेखक थे जो शहरी मध्यवर्ग के, शिक्षित मध्यवर्ग के सदस्य होते हुए भी गांव के लोगों के बहुत नजदीक थे। इसलिए गांव के लोगों के दुखदर्द को जानते थे, किसानों की समस्याओं को वो समझते थे। उन्होंने इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लिया कि हिंदुस्तान की आजादी में ये जो पढ़े-लिखे लोग शामिल हैं, जिनके नेतृत्व में शहरों में बड़े-बड़े जुलूस निकलते हैं, तिरंगे फहराये जाते हैं और जो हंसते-हंसते जेल जाते हैं, ये सब शहर के भद्र वर्ग के लोग हैं, मध्य वर्ग के लोग हैं। और ये हुकूमत सिर्फ अपने लिए मांग रहे हैं। देश की अस्सी प्रतिशत गरीब किसान जनता से इनका कोई संबंध नहीं है। ये गांव में शोषक हैं और शहरों में ये आजादी के दीवाने हैं, आजादी की लड़ाई लड़नेवाले हैं। इस अंतर्विरोध को समझने वाले प्रेमचंद पहले लेखक थे जिन्होंने किसानों की दृष्टि से स्वराज्य के आंदोलन की आलोचना की। 1918 में

उन्होंने उपन्यास लिखा- 'प्रेमाश्रम'। आप देखिए कि उस उपन्यास में पहली बार प्रेमचंद ने जमींदारी प्रथा की आलोचना की और कहा कि इसको मिटा देना चाहिए। 'प्रेमाश्रम' का उनका मुख्य पात्र प्रेमशंकर कहता है कि जमींदारी प्रथा एक प्रणाली है, उसको एक सिस्टम के रूप में उन्होंने देखा 1918 में। ये एक प्रणाली है, जो किसानों के रक्त पर अवलंबित है और उसके पांव की बेड़ियां हैं। जमींदार वर्ग समाज में किसी भी उत्पादन में भूमिका नहीं निभाता है। यह बिचौलिया है। मुफ्त की खाता है। इस बिचौलिये वर्ग की कोई जरूरत नहीं है। ये आलोचना, जमींदारी प्रथा की आलोचना और उसको मिटा देने की मांग पहली बार 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में दिखाई देती है। आप उस समय के राष्ट्रीय आंदोलन का पूरा इतिहास देख जाइए, आपको जमींदारी प्रथा के बारे में कोई प्रस्ताव नहीं मिलेगा, न कांग्रेस के अंदर न बाहर। और न हिंदुस्तान में अभी कम्युनिस्ट ग्रुप उभरे थे। 1918-20 में प्रेमचंद ने लिखा 'प्रेमाश्रम'। ये बड़ी हैरानी की बात है। प्रेमचंद ने जमींदारी प्रथा को खत्म करने की मांग 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में 1918 में कैसे कर दी, जबकि पूरे देश में उस प्रकार की कोई चीज नहीं दिखाई देती है? इसलिए मुझे लगता है कि जैसे लूसिए गोल्डमान ने जो 'पॉसिबल कान्ससनेस' की बात कही है, एक तो 'रियल कान्ससनेस' - हमारे समाज में जो चेतना है और दूसरी जो हो सकती है, आगे चलकर आ सकती है, उस 'पॉसिबल कान्ससनेस' के राइटर थे प्रेमचंद। जो समाज में नहीं आया है, लेकिन परिस्थितियों का तर्क जो है वो बताता है, संकेत देता है कि ऐसी चीज आ सकती है। उस आ सकने वाली चीज की आहट प्रेमचंद ने सुनी। कांग्रेस ने, जो राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर रही थी, बहुत बाद में जाकर जमींदारी सिस्टम का सवाल उठाया, उसको खत्म करने का सवाल उठाया। उससे बहुत पहले इसे प्रेमचंद ने उठाया। यह प्रेमचंद की बहुत बड़ी विशेषता थी।

और प्रेमचंद की दूसरी एक खास बात ये थी कि उन्होंने इस चीज को भी अच्छी तरह से देखा कि राष्ट्रीय आंदोलन का विकास किस दिशा में हो रहा है। वे कांग्रेस के मेंबर थे। चवनिया मेंबर थे। कांग्रेस की सभाओं में जाते थे। उन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा ही दिया कांग्रेस की एक सभा में गांधीजी का भाषण सुनने के बाद, गोरखपुर में फरवरी 1921 में। कांग्रेस के आह्वान पर प्रेमचंद ने अपनी 22 साल की नौकरी छोड़ दी। अपने छोटे-छोटे बच्चों का मुंह देखते रहे बहुत दिनों तक। और पत्नी की ओर देखते रहे कि इनको कौन पालेगा? लेकिन वो पुकार इतनी जबर्दस्त थी कि उन्होंने अपनी 22 साल की जमी-जमाई नौकरी छोड़ दी। आगे क्या होगा, पता नहीं। तरह-तरह के धंधे करते रहे-आजमाते रहे लेकिन बात अंत तक नहीं बनी। ये प्रेमचंद जिस स्वाधीनता आंदोलन में आए, वो स्वाधीनता आंदोलन किस दिशा में जा रहा है, क्या चरित्र ग्रहण कर रहा है, कौन-सी गहराई अख्तियार कर रहा है? इसको वे बड़ी सजगता से देख रहे थे। मैं आपसे कहता हूँ, उस युग में कोई दूसरा लेखक नहीं मिलता है, जो इतनी सजगता से निगाह रखे हुए हो राष्ट्रीय आंदोलन पर कि ये जा कहां रहा है? प्रेमचंद आर्य समाजी थे, लेकिन प्रेमचंद ने आर्य समाज की आलोचना की। और वह भी दयानंद सरस्वती के अर्धशती महानिर्वाण के मौके पर कि आर्य समाज किस दिशा में जा रहा है? जिस दिशा में जा रहा है, वह सही नहीं है। सोचना चाहिए उस पर दोबारा। आर्य समाजी प्रेमचंद ने यह कहा। उसी तरह से स्वाधीनता आंदोलन के सिलसिले में उन्होंने बड़ी बारीकी से उस पर निगाह रखी। आप देखिए कि किस प्रकार उसके चरित्र पर उन्होंने निगाह रखी। 1921 में उन्होंने एक बड़ा महत्वपूर्ण निबंध लिखा था- 'स्वराज्य आंदोलन के रास्ते की रुकावटें'। बहुत ही महत्वपूर्ण निबंध है राष्ट्रीय प्रश्न पर। असहयोग आंदोलन के दौर में, जब असहयोग आंदोलन की ऊंची लहर उठी हुई थी और पूरा देश उसके साथ बह रहा था, उस समय प्रेमचंद ने विश्लेषण किया कि कौन-कौन से लोग इस आंदोलन के विरोध में हैं। उसके विरोधियों में जिन चार वर्गों का नाम उन्होंने लिया, उसमें सबसे पहले, जमींदार वर्ग, दूसरा पूंजीपति वर्ग, तीसरा सरकारी अफसर और चौथे बड़े-बड़े व्यापारी। इन चार वर्गों को प्रेमचंद ने कहा कि ये चारों वर्ग स्वराज्य आंदोलन का विरोध करते हैं। इनको डर है कि इससे उनके हितों पर चोट पहुंचेगी, अहित होगा। और वही प्रेमचंद 1922 में एक कहानी लिखते हैं। 'चकमा' नाम की कहानी है। बड़ी छोटी-सी

लेकिन दिलचस्प कहानी है। उस पर निगाह लोगों की कम गई है क्योंकि कहानी की दृष्टि से, कला की दृष्टि से उतनी उंची नहीं समझी गई और प्रेमचंद ज्यादा तो मशहूर किसानों के बारे में लिखने के लिए रहे, तो उस पर लोगों की निगाह कम गई। इसी चांदनी चौक इलाके की कहानी है। कांग्रेस का पिकेटिंग का दौर चल रहा है। असहयोग आंदोलन का दौर है। और कांग्रेस के वालंटियर जो हैं, विदेशी कपड़ा बेचनेवाली दुकानों के सामने जाकर धरने पर बैठ जाते हैं कि ये हम नहीं बेचने देंगे। आप दस्तखत जब तक नहीं करेंगे शपथ पत्र पर कि आज से विदेशी कपड़ा नहीं बेचूंगा, सौगंध खाते हैं, तब तक नहीं बेचने देंगे। तो वालंटियर एक सेट की दुकान के सामने बैठे हैं। जिन लोगों ने दस्तखत कर दिया है, उनकी दुकान चल रही है। लेकिन जिसकी दुकान के सामने वालंटियर बैठे हैं, वहां किसी को न आने देते हैं, न जाने देते हैं। दुकानदार ने पुलिस को भी बुलवा लिया है, लेकिन पुलिस भी क्या करेगी, हर समय उसकी मदद थोड़े न कर सकती है। तो वो परेशान हैं कि हमारा तो व्यापार ही ठप हो जाएगा। और अंत में वो एक रास्ता निकालता है। जब देखता है कि किसी तरह से बात नहीं बन रही है, कांग्रेस के विरोध से उसको कुछ भी फायदा नहीं हो रहा है, ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद से भी काम नहीं चल रहा है तो अंत में एक रास्ता निकालता है। कहता है कि ठीक है, मैं शपथ पत्र पर दस्तखत कर देता हूँ। वालंटियर शपथ पत्र देते हैं। वह दस्तखत कर देता है कि मैं विदेशी कपड़ा नहीं बेचूंगा। वालंटियर हट जाते हैं और वह कहता है कि बेचो धड़ाधड़ विदेशी कपड़ा, अब तो वालंटियर गए। तो जो विदेशी कपड़ा वो कांग्रेस का विरोध करके नहीं बेच सकता है, वह कांग्रेस का दोस्त बनकर बेच सकता है। कांग्रेस से हाथ मिला लिया जाए तो फिर आपकी निगाहबानी करने और पहरेदारी करने के लिये कोई नहीं आएगा। आप कांग्रेस में आ जाइए और उसके बाद आप जो मर्जी कीजिए। और वे यही करता है। तो ये जो व्यवसायी वर्ग था, 1922 में जो चकमा देता है कांग्रेस को, जिसको प्रेमचंद ने 1921 में उसका विरोधी समझा था, वो किस चतुराई के साथ कांग्रेस का मित्र बनकर अपने स्वार्थ को साधना शुरू करता है, 1922 में ही प्रेमचंद ने देख लिया था, एक साल अंदर वह लेख लिखने के।

आप देखें कि प्रेमचंद का विकास किस तरह होता रहा है। अधिकतर लेखकों की सजगता और संवेदना छीजती जाती है उम्र के साथ-साथ, प्रेमचंद की इसके ठीक विपरीत और प्रखर होती जाती है। ये जो 1922 में चकमा देता है व्यवसायी। 1936 में आप देखिए 'गोदान' के खन्ना साहब को। वो कांग्रेस के नेता बन चुके हैं, कांग्रेस की ओर से जेल जा चुके हैं, सत्याग्रह संग्राम में भाग ले चुके हैं। और वो जमींदार भी जो 1921 में प्रेमचंद को स्वराज के खिलाफ खड़ा नजर आ रहा था, 'गोदान' में वो भी कांग्रेस के सत्याग्रह संग्राम में भाग लेकर जेल जाता है, कांग्रेस के लिए बलिदानी करता है। जिन किसानों का वह शोषक है, वे किसान उसको बड़ी श्रद्धा से देख रहे हैं। वो जमींदार-तालुकदार होकर कांग्रेस का विधानसभा का सदस्य, कौंसिल का मेंबर हो गया है। तो 1921 में जो पूंजीपति और जमींदार वर्ग कांग्रेस के खिलाफ खड़े थे, उसका विरोध कर रहे थे, 1936 में ये दोनों कांग्रेस के नेता बने हुए नजर आते हैं। क्या दृष्टि है प्रेमचंद की और आप देख लीजिए 1947 के बाद जो हुआ और उनके आर्थिक हितों पर कोई चोट नहीं पहुंची। सभी जानते हैं, कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि 1936 तक बिड़ला कांग्रेस के बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति हो चुके थे कांग्रेस पार्टी के अंदर और कांग्रेस पार्टी के सबसे बड़े फाइनेंसर थे जमनालाल बजाज और बिड़ला। और नेहरू जो हैं मार्क्सवाद और समाजवाद की बातें कर रहे थे और पूंजीपतियों के शीर्ष कांग्रेस के नेता थे। लेकिन गांधीजी को नेहरूजी से कोई खतरा नहीं लगता था कि यह इतनी समाजवाद और मार्क्सवाद की बातें कर रहा है। न बिड़ला को कोई खतरा लगता था - कोई बात नहीं, जवाहरलाल समाजवाद की बातें कर रहा है, कोई बात नहीं, करने दो। तो ये जो क्षमता है शोषक वर्ग की और किस प्रकार से देश की मुख्य राजनीतिक धारा को एप्रोप्रिएट कर लेता है, उस पर कब्जा जमा लेता है, उसको हड़प लेता है। इस चीज को पहचाननेवाला क्या हिंदी में एक भी दूसरा लेखक दिखाई देता है? यहां तक कि कम्युनिस्ट पार्टियों से आने वाले लेखक, जो बड़ी ही सचेत वर्गदृष्टि वाले समझे जाते हैं और समझे जाने चाहिए। उनमें भी आपको कोई ऐसा नहीं दिखाई देगा

जो प्रेमचंद जैसी पैनी दृष्टि से स्वाधीनता आंदोलन को देख रहा हो। प्रेमचंद की यह विशेषता है। स्वाधीनता का तो वे खुद को सिपाही मानते थे। स्वराज्य के लिए कुछ कर सकूँ, कुछ लिख सकूँ – यही उनके जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा थी। कांग्रेस के सदस्य थे। कांग्रेस के कार्यक्रम का बाकायदा प्रचार करते थे। 'स्वराज्य के फायदे' नाम से एक पैंफलेट उन्होंने लिखा, सीधे-सीधे किसानों के लिए कि कांग्रेस के आंदोलन में आने से तुमको क्या-क्या फायदा है। इसके बावजूद प्रेमचंद में कुछ ऐसी बुनियादी बातें हैं, जो कांग्रेस से और राष्ट्र के सर्वोच्च नेता से उनकी बुनियादी असहमति को दिखाती हैं। और यह असहमति, मैं कुछ ऐसे वैसे मुद्दों की बात में नहीं कह रहा हूँ कि बिहार में भूकंप आया तो गांधीजी ने कहा कि ये पाप का फल है और प्रेमचंद ने कहा कि ये पाप की धारणा गलत है। मैं ऐसे वैसे मुद्दों की बात नहीं कह रहा हूँ। मैं बुनियादी मुद्दों की बात कर रहा हूँ। राष्ट्रीय आंदोलन के बुनियादी चरित्र पर गांधीजी से उनका जो मतभेद था, उसमें सबसे मुख्य सवाल किसान का था।

प्रेमचंद कांग्रेस के कार्यकर्ता रहे, उसके लिए उन्होंने नौकरी छोड़ी, उनकी पत्नी जेल गई, सब कुछ किया उन्होंने, लेकिन किसानों के सवाल पर वे कभी भी कांग्रेस से सहमत नहीं हुए। गांधीजी कहते थे कि किसानों को जमींदारों से अभी नहीं लड़ना चाहिए। जमींदार भी हमारे दोस्त हैं। अभी तो लड़ाई अंग्रेजों से है। किसान और जमींदार को आपस में नहीं लड़ना चाहिए। गांधीजी ने ये भाषण 1921 में जब अवध में किसान आंदोलन चल रहा था, तब दिया था। आप देखिए कि उसी दौर में प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों, कहानियों में किसानों को जमींदारों से लड़ते हुए दिखाया है। गांधीजी के ठीक उल्टे उन्होंने किसान को जमींदारों से लड़ते हुए दिखाया। गांधीजी कहते थे कि इससे आजादी की लड़ाई कमजोर होगी- अगर किसान जमींदार से लड़ेगा। कैसे कमजोर होगी- ये गांधीजी नहीं बताते थे लेकिन कहते थे कि कमजोर होगी। प्रेमचंद ने इसको कभी स्वीकार नहीं किया। वे समझते थे कि इससे अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई मजबूत होगी। फैजाबाद में किसान आंदोलन चल रहा था वहां बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में। गांधीजी आए, भाषण दिया और जो किसान सभा बाबा रामचन्द्र और दूसरे किसानों ने नीचे से बनाई थी, उसको कांग्रेस ने हड़प लिया। वे किसान तो आए थे इन राष्ट्रीय नेताओं के पास कि ये लोग उनका नेतृत्व करेंगे। लेकिन कांग्रेस के लोग उनका नेतृत्व क्या करते? वे तो उन लोगों का नेतृत्व कर रहे थे जो किसानों के शोषक थे- जमींदार और ताल्लुकेदार। गांधीजी ने मोतीलाल नेहरू को यूपी किसान सभा का अध्यक्ष बना दिया। मोतीलाल नेहरू, सब जानते हैं कि यूपी के सबसे बड़े ताल्लुकेदारों के वकील थे। उनकी लाखों की संपत्ति उसी वकालत से आई थी। वे किसानों का हित क्या करते? गांधीजी ने 18 सूत्र दिए थे फैजाबाद वाले भाषण में। फैजाबाद में गांधीजी ने किसानों से कहा कि वे जमींदारों से न लड़ें और अगर जमींदार उन पर कुछ अत्याचार करते भी हों तो वे उसे सह लें। और अगर फिर भी न सहा जाए तो पंडित मोतीलाल नेहरू से जाकर कहें। ये था गांधीजी का किसानों के लिए कार्यक्रम। गांधीजी ने कहा कि जमींदार हमारे दुश्मन नहीं हैं। किसान अभी जमींदारों से न लड़ें। और उसी दौर में प्रेमचंद ने सबसे बड़ी रचना जमींदारों के खिलाफ लिखी- 'प्रेमाश्रम' और एक कहानी लिखी 'विध्वंस'। उसी दौर की लिखी हुई कहानी है 'विध्वंस', जिसमें एक बुढ़िया की कुटिया को और वह जो भाड़ बनाती है चना भूजने के लिए, उसको लात से मारकर तोड़ देता है जमींदार और उसकी कुटिया में आग लगा देता है। वो आग फैलते-फैलते जमींदार के पूरे बखार और पूरे भवन को दबोच लेती है और सब कुछ जलकर भस्म हो जाता है। प्रेमचंद की 400 कहानियों में ऐसी दूसरी कोई कहानी नहीं मिलेगी, उतनी फैसलाकुन कहानी कि तुम जिस गरीब किसान को उजाड़ रहे हो, तो वो तुमको भी छोड़ेंगे नहीं। वो तुम्हारी प्रणाली को, सब कुछ को ध्वस्त करके छोड़ेंगे। प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में आपने देखा कि जमींदारी प्रथा के खिलाफ बिगुल बजाया। सारा 'प्रेमाश्रम' जमींदारी प्रथा के खिलाफ है।

इस दौर में प्रेमचंद ने एक महत्वपूर्ण रचना लिखी, जो हमें गांधीजी से उनके अंतर को समझने में मदद देती है। वह उनका नाटक है जिस पर बहुत कम लोगों की निगाह गई है- 'संग्राम'! 1922-23 की

रचना है 'संग्राम'। इस नाटक में एक जमींदार है सबल सिंह। वो बड़ा अच्छा जमींदार है। एक आदर्श जमींदार है, शिक्षित। वो अपने किसानों का शोषण नहीं करता है। वो उनसे बेगार नहीं लेता, रसद नहीं लेता, नजराने नहीं लेता और उनकी बेदखली नहीं करता है। उनका लगान मनमाने तौर से नहीं बढ़ाता है। वो सारे काम जो 'प्रेमाश्रम' के जमींदार और ताल्लुकेदार करते हैं, इनमें से कोई भी काम वह नहीं करता है। उसके किसान भी उससे बहुत खुश हैं। वे उससे बहुत प्रेम करते हैं। तो आप देखिए कि जो गांधीजी कह रहे थे कि किसान और जमींदार को मिलकर रहना चाहिए, प्रेमचंद ने उनके इस राजनीतिक आदर्श को मानो मूर्त कर दिया हो नाटक में, जहां किसान और जमींदार मिलकर रह रहे हैं। लेकिन आप इस फर्क को मत भुलाइए कि गांधीजी ने ये कहा था कि किसान जरा त्याग करें जमींदार के साथ मिलकर रहने के लिए। लेकिन प्रेमचंद ने किसान को नहीं, जमींदार को त्याग करते हुए दिखाया कि अगर तुम नजराना छोड़ने को राजी हो, बेगार और रसद छोड़ोगे तो किसान भी तुमसे मिलकर रहने को तैयार है। ये बड़ा बुनियादी अंतर था प्रेमचंद का गांधीजी के साथ। यह नहीं, ये जो सबल सिंह जमींदार है, ये अंग्रेजों के खिलाफ असहयोग आंदोलन का प्रचार करता है। इतना ही नहीं, वह लैंटर्न फिल्म दिखाता है किसानों को। दारू नहीं पीनी चाहिए। ताड़ी नहीं पीनी चाहिए। सफाई से रहना चाहिए। खट्टर पहनना चाहिए। अंग्रेजों की अदालत में नहीं जाना चाहिए। गांव की पंचायत में मामले निपटाने चाहिए। यानी वो सारा गांधीजी और कांग्रेस का जो कार्यक्रम था, उसका वह प्रचार करता है। गांधीजी ने जमींदारों से नहीं कहा था कि तुम असहयोग करो। वो कहते थे कि अभी हम उनसे इतनी मांग नहीं करते हैं। प्रेमचंद ने गांधीजी से भी आगे बढ़कर उनको असहयोगी दिखलाया। इसमें जमींदार और किसान दोनों मिलकर अंग्रेज को शत्रु मानते हैं। यह प्रेमचंद की एकमात्र रचना है, जिसमें किसान भी-बाकी सारी रचनाओं में किसान, जमींदार के सामने खड़ा है- लेकिन 'संग्राम' नाटक में जमींदार और किसान मिलकर अंग्रेज के खिलाफ लड़ते हैं। गांधीजी का जो असहयोग आंदोलन था, उसके संदर्भ में इससे बढ़कर आदर्श रचना कोई दूसरी हो नहीं सकती थी।

इसके बावजूद यह नाटक की विषयवस्तु नहीं है। नाटक यहीं खत्म नहीं होता है। नाटक इससे भी आगे जाता है और इससे आगे यूँ जाता है कि ये सबल सिंह जो है, उसके पास पैसा बहुत है। पैसे से ताकत होती है। पैसा और ताकत कैसे आदमी के दिमाग को खराब करता है कि अपने एक रैयत की खूबसूरत-जवान पत्नी पर उसका मन आ जाता है। और वह उसको हासिल करना चाहता है। उसको हासिल करने के लिए फिर वह चालें चलता है। उसके पति पर कुछ जुर्माना और इल्जाम लगाकर उसको जेल में बंद करा देता है। फिर उसकी औरत को निकाल लेता है वहां से। निकाल के उसे शहर में एक जगह रखवा देता है क्योंकि गांव में उसका परिवार है अपना। वहां जाता है उसके पास। ये बातें उसके छोटे भाई को मालूम हो जाती हैं तो रास्ते से उसको हटाने के लिए उसकी हत्या का षड्यंत्र रचता है। ये बात उसकी पत्नी पर खुल जाती है कि इसने एक औरत रखी है और अपने भाई को भी मरवाया है तो वह जहर खाकर आत्महत्या कर लेती है। इस तरह उसका सारा जीवन कलह-क्लेशों से भर उठता है। उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है उस महत्वाकांक्षा में। पैसा और ताकत आदमी को कहां पहुंचा कर मटियामेट कर देती है? ये जो एक दर्शन था प्रेमचंद के पास, इसका प्रचार गांधीजी ने नहीं किया राष्ट्रीय आंदोलन में। ये टालस्टॉय की विचारधारा थी। टालस्टॉय रूस में बड़े क्रांतिकारी लेखक थे किसानों की दृष्टि से। क्योंकि टालस्टॉय भू-संपत्ति की आलोचना करते थे। भू-संपत्ति की, ईसाई मठों की, पुलिस की, जमींदारों और ताल्लुकेदार वर्गों की आलोचना करते थे। कि ये सब संस्थाएं और लोग अनैतिक हैं। टालस्टॉय का सीधा-सा दर्शन था। हालांकि वह, ईसाई दर्शन में जो संत फ्रांसिस थे, जो गरीबों के संत समझे जाते थे, उनके दर्शन से आया हुआ था। वो ईसाइयत में शामिल रहा है शुरू से-गरीबों का पक्ष लेना। ईसाइयत में है। इस्लाम में भी है। तो यह जो टालस्टॉय का दर्शन है कि संपत्ति इंसान को भ्रष्ट करती है। संपत्ति इंसान के पापों का मूल है। इंसान को श्रम किए बिना कुछ भी खाने का हक नहीं है। अगर वो खाता है तो यह अनैतिक है। इसीलिए टालस्टॉय ने सारी संपत्ति भी त्यागी थी।

उसके उपन्यास 'अन्ना कैरेनिना' में और 'पुनरुत्थान' में दोनों में नायक संपत्ति का त्याग करते हैं। बड़े प्रभावित हुए थे प्रेमचंद टालस्टॉय से। 1916-17 में प्रेमचंद ने टालस्टॉय की कहानियों को पढ़ा था, अनुवाद भी उसका किया था। और उन पर जो इल्जाम झूठा लगाया अवध उपाध्याय ने कि इन्होंने 'रिजर्वेशन' की नकल की है। वास्तव में 'प्रेमाश्रम' का जो पात्र है प्रेमशंकर, वो 'अन्ना कैरेनिना' नॉवेल के लेविन से प्रभावित चरित्र है। जैसे लेविन अपनी जमींदारी से इस्तीफा देता है। अपने किसानों के साथ मिलकर खेत में मजदूरी करता है, खून-पसीना बहाता है। 'अन्ना कैरेनिना' जब छपी 1933 में, हिंदी में उसका अनुवाद किया छविनाथ पांडेय ने, तो प्रेमचंद ने उसकी भूमिका लिखी। प्रेमचंद ने भूमिका में टालस्टॉय के लिए लिखा कि वो विचारों में संपूर्णतः सोशलिस्ट थे। टालस्टॉय को प्रेमचंद ने सोशलिस्ट कहा इसलिए कि वो संपत्ति की आलोचना करते हैं, भू-संपत्ति की, जमींदारी प्रथा की आलोचना करते हैं। और बिना श्रम किए खाना अनैतिक समझते हैं। आप देखेंगे कि 1922-23 के दौर में प्रेमचंद ने कई कहानियां लिखी हैं - 'बैंक का दिवाला', 'पशु से मनुष्य'। इन तमाम कहानियों में और 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में प्रेमचंद ने एक सोशलिस्ट जमींदार की छवि खड़ी की है। एक जमींदार है, जिसको किसी समय यह बोध होता है कि उसकी जमींदारी पर उसका कोई हक नहीं है। उस पर हक उसी का है, जो उसको जोतता है, बोता है। मेरे पुरखों को जमींदारी खरीदने से नहीं मिली थी। अंग्रेजों ने दलाली के लिए दी या और किसी और तरीके से मिली। इस पर मेरा कोई हक नहीं है। यह बोध होने पर 'बैंक का दिवाला' का पात्र है, 'पशु से मनुष्य' का पात्र है - ये सारे लोग अपनी जमींदारी से इस्तीफा देते हैं और उसी जमीन पर किसानों के साथ मिलकर परिश्रम करना शुरू करते हैं। तो ये जो सोशलिस्ट जमींदार की छवि है, ये उनके यहां मिलेगी। ये बड़ी प्यारी छवि है। बाद में उन्होंने इस छवि का मोह छोड़ दिया। वे दस सालों तक देखते रहे लेकिन समाज में ऐसी कोई छवि उभरकर नहीं आई। तो इस यथार्थ से वे आगे निकल गए। लेकिन एक लंबे दौर में प्रेमचंद के पास यह छवि थी सोशलिस्ट जमींदार की। उनके नाटक 'संग्राम' में भी सबल सिंह का जीवन जब कलह-क्लेश से भर उठता है तो वह भी इसी नतीजे पर पहुंचता है कि ये जो संपत्ति है, यही पाप का मूल है। मैं आपको उसका एक वाक्य सुना रहा हूँ - "आज मुझे विदित हो रहा है कि ऐश्वर्य और संपत्ति जिस पर मानव समाज मिटा हुआ है, जिसकी आराधना और भक्ति में हम अपनी आत्माओं की भी भेंट कर देते हैं, वास्तव में एक प्रचंड ज्वाला है जो मनुष्य के हृदय को जलाकर भस्म कर देती है। संपत्ति ही पाप का मूल है।" गांधीजी और प्रेमचंद, दोनों टालस्टॉय के चले थे। ये टालस्टॉय का दर्शन, प्रेमचंद ने कभी अपने हाथों से नहीं छोड़ा। गांधीजी ने इसकी परवाह नहीं की राजनीति में। यह फर्क है। यहां जाकर 'संग्राम' नाटक खत्म होता है, जो गांधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन से बहुत आगे की चीज है। बहुत आगे ले जाता है उस चीज को।

बहरहाल, मैं एक चीज और कहना चाहूंगा। वह यह कि स्वाधीनता आंदोलन का जहां एक ओर प्रेमचंद अतिक्रमण करते हैं, वहीं साथ में राष्ट्रीय आंदोलन के जो अंतर्विरोध थे, जो कमजोरियां थीं, वे भी हमें प्रेमचंद में दिखाई देती हैं। हमारे यहां आलोचना में इस प्रकार की संस्कृति नहीं है अंतर्विरोधों और कमियों पर नजर डालने की। खासकर जब वो बड़ा लेखक हो, तो। ये एक बड़ी विडंबनाजनक स्थिति लगती है कि एक ओर तो प्रेमचंद किसानों के सबसे बड़े पक्षधर हैं और किसानों के प्रश्न को केंद्रीय प्रश्न मानते हैं और उसी की दृष्टि से सारे राष्ट्रीय आंदोलन की जांच-पड़ताल करते हैं और उसके नेतृत्व की आलोचना करते हैं। दूसरी ओर, यही प्रेमचंद हैं जो किसानों को कभी भी आगे बढ़कर इस तरह संघर्ष की उस दिशा में नहीं ले जाते हैं, जहां वह राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व वर्ग को हटाने को तैयार हो। राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना करते रहने के बावजूद, आप गौर करेंगे कि प्रेमचंद उसका कोई विकल्प नहीं सुझाते। क्या उस राष्ट्रीय आंदोलन का, जिसकी इतनी आलोचना कर रहे थे प्रेमचंद, क्या उसका कोई विकल्प नहीं उभर रहा था उस युग में? ये एक सवाल है जिस पर हिंदी में कभी नहीं विचार किया जाता। मैं कोई स्थापना नहीं दे रहा हूँ। यह एक सवाल है, जिसे सबसे पहले गीतांजलि पांडे ने अपनी किताब 'बिटविन टू वर्ल्ड्स' में उठाया था

और जिस पर विचार और जांच-पड़ताल होनी चाहिए कि क्यों प्रेमचंद बार-बार उसी वर्ग की आलोचना करते हैं और फिर उसी के पास लौट जाते हैं? चाहे वह 'कर्मभूमि' उपन्यास हो, चाहे 'प्रेमाश्रम' हो, चाहे उनकी कहानी 'तावान' हो। सब में आगे देखेंगे कि प्रेमचंद उस वर्ग की बड़ी तीखी आलोचना करते हैं, लेकिन निवेदन भी उसी वर्ग से करते हैं, अपील भी उसी से करते हैं, आस्था भी उसी में प्रकट करते हैं। तो ये जो विडंबनापूर्ण स्थिति है, जो अंतर्विरोध है, उसकी वजह क्या है? क्या राष्ट्रीय आंदोलन का कोई विकल्प प्रेमचंद को उस समय नहीं दिख रहा था? या नहीं उभर रहा था कोई विकल्प? यह प्रश्न तब और गहरा हो जाता है, जब हम 'गोदान' को देखते हैं, जिस उपन्यास में प्रेमचंद ने एक किसान के जीवन में धंसे हुए अंधेरे को देखा है। उस अंधेरे के बाहर उसको कोई किरण उजाले की नहीं दिखाई दे रही है। वह एक अंधेरे बंद कमरे में भटक रहा है। बाहर निकलने का कोई दरवाजा नहीं है। होरी की जिंदगी में कहीं कोई दरवाजा, कोई खिड़की नहीं है, जिससे वह बाहर निकले। वो इतने करीब पहुंचे हैं किसान की आत्मा के। उसी उपन्यास में हम देखते हैं कि सारी विकसित समझ के बावजूद प्रेमचंद कोई संकेत नहीं देते हैं कि किसान इन चीजों के खिलाफ लड़ भी सकता है। ये सवाल हमें और परेशान और हैरान करता है, तब खासकर, जब हम देखते हैं कि 1925-26 के बाद किसान आंदोलन का लगातार विकास हो रहा था। 1924-25 तक सहजानंद सरस्वती का उभार हो चुका था। बहुत सारे संन्यासी-स्वामी किसान आंदोलन के नेता बनकर आते हैं। 'प्रेमाश्रम' में संन्यासी बनकर खुद सुक्खू चौधरी आता है। और उसके बाद प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में आत्मानंद को संन्यासी के रूप में रखा है। समाज की सारी वास्तविकता के बावजूद प्रेमचंद के किसान क्यों नहीं लड़कर जीतते हुए दिखाई देते? ये एक बड़ा सवाल है जो लगातार हमें परेशान करता है। मैं इसका कोई सटीक उत्तर नहीं दे सकता। लेकिन एक सुझाव, एक दिशा में इशारा करना चाहता हूं कि राष्ट्रीय आंदोलन का जो बूर्जा नेतृत्व था, जिसको प्रेमचंद आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे, प्रेमचंद को ऐसा लगता था कि इसका कोई विकल्प नहीं है और वह नेतृत्व प्रेमचंद की किसान संबंधी दृष्टि को प्रभावित और नियंत्रित करता हुआ दिखाई देता है। राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस की जो राजनीति थी, उस राजनीति की जो जरूरतें थीं, वे जरूरतें माओं नियंत्रित करती हैं प्रेमचंद को। और सबसे बड़ी जरूरत कांग्रेस की यह थी कि एंटी फ्यूडल स्ट्रगल न हो जाए देश में, जो हमारे जैसे ही उपनिवेश चीन में हुआ और उसकी आजादी दूसरे तरीके से हासिल हुई। लेकिन हमारे यहां गांधीजी और कांग्रेस ने कभी उसको तरजीह नहीं दी। यह चीज प्रेमचंद को मानो नियंत्रित करती है। एक छोटा-सा संकेत मैं और देना चाहता हूं। 1930 के दशक में किसान आंदोलन में एक और उभार आया। इस बार कांग्रेस के नेता खुलकर सामने आए। जवाहलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस जैसे तमाम समाजवादी युवा नेता खुलकर सामने आए। इन्होंने इस बार किसान आंदोलन का उस प्रकार नियंत्रण नहीं किया जैसे 1920-21 में किया। इसमें किसानों ने लगानबंदी का आंदोलन चलाया और कांग्रेस ने उसका समर्थन किया। नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जो वामपंथी नेता थे कांग्रेस के, इन्होंने किसानों से कहा कि एक पैसा मत दो लगान का। एक पैसा नहीं देना है। इतना मंदी हो गई है कि किसान के पास पैसा नहीं है। गांधी जी ने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं करना है, जमींदार भी कष्ट में हैं। ऐसा करो कि आधा तुम दो, आधा जमींदार दे। और हम सरकार से कहेंगे कि किसी से भी न ले। और इस संघर्ष में प्रेमचंद ने कांग्रेस के वामपंथी नेताओं का विरोध किया।

यह एक गलत धारणा है कि प्रेमचंद का अंतिम दिनों में गांधीवादी नेतृत्व से मोहभंग हो गया था और वे समाजवादी हो गए थे। इसके ठीक उल्टे एक लेख में जो उन्होंने जून 1931 में लिखा 'देश की वर्तमान स्थिति' - लगानबंदी के सवाल पर, प्रेमचंद की पंक्तियां हैं- "महात्मा जी ने किसान भाइयों को सलाह दी थी कि दखीलकारों को (यानी किसान को) चाहिए कि वे रुपये में आठ आने अवश्य दें। यदि किसान इससे अधिक दे सकें तो दें, लेकिन इतना जरूर दें। किंतु एक ओर हमारे जमींदार इससे ज्यादा वसूल करने पर तुले हुए हैं और दूसरे ओर हमारे कार्यकर्ता, जिनमें कुछ बड़े-बड़े नाम भी हैं, महात्मा जी के आदेशों पर ध्यान

न देकर किसान भाइयों को अपना शिकार बना रहे हैं। इन वीर पुरुषों में होड़-सी लगी हुई है कि कौन गरम से गरम बात कहकर जनता पर अपने नेतृत्व का सिक्का जमा दे।” इस आलोचना का निशाना कौन है, आप समझ सकते हैं। इसके बाद प्रेमचंद ने लिखा है कि “हमारा किसान भाइयों से यही अनुरोध है कि वे महात्मा जी को अपना सच्चा नेता मानें और उनके बताए हुए मार्ग में जौ भर भी विचलित न हों। गरीबों का महात्मा जी से बड़ा शुभचिंतक संसार में दूसरा नहीं है।” तो किसान आंदोलन को नियंत्रण में रखने की गांधीजी की जो नीति थी, प्रेमचंद उनके साथ दिखाई देते हैं, उस समय के वामपंथियों के साथ नहीं। एक दूसरा उदाहरण है जो सुधीर चंद्र ने दिया था - 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन का। प्रेमचंद बड़े शुरु से मंसूबे बांध रहे थे कि इस अधिवेशन में वे कराची जरूर जाएंगे। बड़ा महत्वपूर्ण अधिवेशन था वह सत्याग्रह आंदोलन के बाद। लेकिन उसी समय भगत सिंह की फांसी का सवाल उठा और पूरा देश भगत सिंह की फांसी की सजा को रद्द करने की मांग करने लगा। गांधीजी ने पता नहीं कितनी उसकी मांग की। भगत सिंह को फांसी हो गई तो सारा देश भगत सिंह के साथ हो गया और गांधी के खिलाफ नारे लगने लगे। प्रेमचंद ने दया नारायण निगम को चिट्ठी लिखी कि मेरा बड़ा मन था कराची के अधिवेशन में जाने का, लेकिन अभी जिस तरह से भगत सिंह को फांसी देने के बाद गांधीजी को हूट किया जा रहा है, मैं नहीं जाऊंगा। नहीं गए प्रेमचंद। और तीसरा उदाहरण। प्रेमचंद ने 1930 में एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने जमींदारों के बारे में एक ऐसी बात कही, जो उन्होंने पहले कभी नहीं कही थी। और वो ये है कि जमींदारी प्रथा को मिटाना बहुत जरूरी नहीं है। यह बात उन्होंने न सिर्फ उस समय के लिए बल्कि जब स्वराज्य आ जाएगा उसके बाद के लिए भी कही, जबकि खुद कांग्रेस ने आगे चलकर जमींदारी प्रथा को खत्म करने की बात उठाई। हंस के अप्रैल, 1930 के अंक में छपे इस लेख में प्रेमचंद ने लिखा - “जमींदारों में भी अच्छे और बुरे लोग हैं। अगर वे अपने आपको इतना कलंकित न कर लें कि उनका अस्तित्व ही दूसरों की आंखों में खटकता हो तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना हुआ अनंत काल तक जीवन का उपभोग कर सकता है। स्वराज्य काल में यानी आजादी के बाद भी जमींदार रहेंगे, उनका आदर और सम्मान भी रहेगा, उनका रोबदाब भी रहेगा। हां, बेगार न रहेगी, नजराने न रहेंगे, अंधाधुंध लूट न रहेगी।” यहां जमींदार वर्ग के बने रहने के संबंध में प्रेमचंद ने जो कुछ लिखा है, उसका ‘प्रेमाश्रम’ में व्यक्त उस बुनियादी विचार से कोई मेल नहीं दिखता कि जमींदार वर्ग समाज में एक अनावश्यक वर्ग है जिसका अस्तित्व ही दूसरों के रक्त पर अवलंबित है। जो वर्ग जोक की तरह दूसरों का खून चूसकर जिंदा रहता है, उसी के बारे में यहां प्रेमचंद ने यह संभावना व्यक्त की है कि अगर वह अपने शोषण को छोड़ दे तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना रह सकता है। प्रेमचंद परस्पर विरोधी दो वर्गों के बीच के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों को शांतिपूर्वक हल कर लेने की उम्मीद जताते हैं। तो जमींदारी शोषण नहीं रहेगा, जमींदार भले ही रहें।

तो ये कुछ विडम्बनाएं और अंतर्विरोध भी हैं प्रेमचंद में, उन्हें हम कम देखते हैं। हमें देखना चाहिए कि इनकी जड़ें कहां हैं? समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान की ओर झुकने के अलावा प्रेमचंद कई बार क्रांति, और निर्मम संघर्ष की अनिवार्यता की ओर भी झुकते हुए दिखाई देते हैं। प्रेमचंद कब, किन स्थितियों में एक पक्ष की ओर झुकते थे और कब, किन स्थितियों में दूसरे पक्ष की ओर-इसकी बारीकी से जांच-पड़ताल करने की जरूरत है जो अभी तक नहीं की गई है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के पुनश्चर्चा पाठ्यक्रम के अन्तर्गत 29 दिसम्बर 07 को दिया गया व्याख्यान

वरिष्ठ आलोचक और अन्वेषी वीर भारत तलवार ने काफी समय जबरदस्त सामाजिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता भी की। ‘फिलहाल’ पत्रिका के संपादकों में प्रमुख थे। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में काफी वक्त प्रोफेसर रहे। इन दिनों उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में फेलो हैं।